

बदल गये समय की रेत पर फंसी जिन्दगी

ज्योतिष जोशी

हिन्दी के औपन्यासिक परिदृश्य में रवीन्द्र वर्मा ऐसे सजग और समर्थ उपन्यासकार के रूप में जाने जाते हैं जिनके उपन्यास अपने समय के तीखे सवालों से मुठभेड़ करते हैं। आख्यानधर्मिता इनके उपन्यासों की शक्ति है यद्यपि अब उपन्यास के लिए इनकी अधिक जरूरत नहीं रह गयी है। एलेन फ़िडमैन उन्हीं उपन्यासों को 'क्लोज्ड नॉवेल' कहते हैं जो कथा कहने के लिए लिखे जाते हैं। रवीन्द्र वर्मा के उपन्यासों की केन्द्रीय धुरी कथा है, पर वे कथा कहने के लिए नहीं लिखे जाते; ऐसे सवालों से टकराने के लिए लिखे जाते हैं जो आज मनुष्यता पर भारी हैं। दिलचस्प है कि रवीन्द्र वर्मा आख्यान के प्रवाहों में से ऐसे चरित्रों की भी सृष्टि कर पाते हैं जो जिन्दा ही नहीं लगते, हमारे दिमाग को बेतरह झिंझोड़ते भी हैं। डब्ल्यू. जे. हार्वे की मांग के अनुरूप रवीन्द्र वर्मा चरित्रों को अपना स्वरूप पाने देते हैं। यह एक भारतीय उपन्यासकार का अपने 'फॉर्म का विवेक' है जो नाना विवादों के बीच भी अपनी सार्थकता पाने की ओर बढ़ रहा है पर अपनी यहां तक की यात्रा के बाद एक उपन्यासकार के रूप में रवीन्द्र वर्मा की तकनीकी सफलता जितनी आश्वस्त करती है, उतनी ही संवेदनात्मक शिथिलता हैरत में डालती है। 'जवाहरनगर' और 'निन्यानबे' के उपन्यासकार से जिस आगे की यात्रा की उम्मीद थी, वह उनके नये उपन्यासों, विशेषकर 'दस बरस का भंवर' में फलित होती नहीं दिखती।

उनका नया उपन्यास 'दस बरस का भंवर' अपनी तकनीकी कुशलता से गहरी आश्वस्ति देता है, लेकिन कथ्य में वह गहराई और चरित्रों का अपने समय की विरूपताओं से जूझना उतना नहीं है जितना उपन्यास में दरकार है। उपन्यास में अपने समय की नैतिकता का गहरा अहसास है, इतना है कि प्रतिबद्धता रचना की स्वाभाविकता में बाधा बन कर खड़ी हो जाती है। अपने वर्तमान की राजनीति और मानवीय प्रश्नों पर जिस आग्रह के साथ श्री वर्मा खड़े दिखायी देते हैं, अगर उनका रचना के आख्यान में वास्तविक संदर्भ होता तो उपन्यास की गहराई कम न होती। पर सब कुछ को कथा विन्यास में समेट लेने का यह हथ्थ हुआ है कि उपन्यासकार रचना के मूल प्रस्थान कर कम ध्यान देकर अनुषंगी इकाइयों पर अधिक आग्रही हो गया है। यही कारण है कि साम्प्रदायिकता और यथार्थवाद का दबाव इतना बढ़ गया है कि पूरा उपन्यास संवेदना की जगह विवरण को अधिक महत्व दे बैठा है। यह तात्कालिकता श्री वर्मा जैसे उपन्यासकार के लिए शुभ सिद्ध नहीं हो पायी है।

यह समझना मुश्किल है कि 'दस बरस का भंवर' जिस नव उदारवाद, उपभोक्तावाद और वैश्विक सड़ांध को अपना मुख्य कथ्य बनाता है, उसमें बाबरी मस्जिद विध्वंस और गुजरात नरसंहार की छौंक देकर उसकी संरचना को क्यों तोड़ा गया। यह वे मानवीय संकट हैं जो अपने प्रभाव में पूरे परिवेश को लिए हुए हैं, यह सच है। पर सच यह भी है कि नव उदारवाद ने जिस तरह की अपसंस्कृति निर्मित की है उसने भारतीय समाज को नष्ट करने की शुरुआत कर दी है, उसके ताने बाने को छिन्न भिन्न कर दिया है। क्या इस एक मानवीय संकट से जूझना कमतर था कि श्री वर्मा को उस तात्कालिक और बहुप्रचारित सम्प्रदायवाद की शरण में जाना जरूरी लगा जिसने आज के सबसे बड़े प्रश्न को, जो

उपन्यास का जरूरी पाठ्य था, महत्वहीन करने की गरज पड़ी।

उपन्यास में नवउदारवाद की भेंट चढ़ गयी युवा पीढ़ी और बदलते समाजों की संरचनाओं को देख पाने की लेखकीय जुगत प्रशंसनीय है। हाल के वर्षों में ऐसा कोई उपन्यास शायद ही आ पाया हो जिसने इस बड़े संकट को इस बारीकी से दिखाने की चेष्टा भी की हो जैसी कोशिश इस उपन्यास में है। यही कारण है कि तात्कालिक प्रश्नों में लेखकीय आग्रह का विन्यस्त होना खटकता है। अगर ऐसा न होता तो यह उपन्यास आज के समय का वह उपन्यास होता जो नैतिक लोकमत को जगाने का सबसे बड़ा प्रयत्न होता। बावजूद इसके, रवीन्द्र वर्मा की दृष्टि और उनके लेखकीय कौशल की प्रशंसा करनी होगी कि जब शेष रचनाकारों में अपने अंचल, अपने समुदाय और अपनी निजी अस्मिताओं को व्यक्त करने की होड़ लगी है, तब श्री वर्मा ने आज के सबसे बड़े संकट को उसकी समग्रता में पकड़ने का सफल यत्न किया है। जिस युवा पीढ़ी में हम देश का भविष्य देखते हैं, जिससे हम उम्मीद पाले प्रतीक्षितुर हैं; वह किस हद तक दिशाहीन, विवेकहीन और नाना भ्रातियों की शिकार है— यह उपन्यास हमें बताता है। इस पीढ़ी में मानवीयता, करुणा, संवेदना और नैतिकता की खोज करना अपनी मूढ़ता सिद्ध करनी है क्योंकि इसने आज जी भर जी लेने की आकुलता को ही अपना मूल्य बना लिया है। उपन्यास 'दस वर्ष का भंवर' बांके बिहारी के परिवार की कथा के बहाने सामयिक प्रश्नों पर विमर्श करता है। झांसी के बांके बिहारी नैतिक उसूलों के कायल और पुराने स्वतंत्रता सेनानी हैं। किशोरी धर्मपरायण महिला हैं जो उनकी सहधर्मिणी हैं। नमन, पवन, मदन और रतन, बांके बिहारी के चार पुत्र हैं जो उस नयी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके लिए मूल्यों और आदर्शों का कोई मतलब नहीं है; गरजपरस्ती ही उनके लिए मूल्य है और रिश्ते नाते भी स्वार्थ के आगे कोई महत्व नहीं रखते। नमन लखनऊ के एक बैंक में कार्यरत है, कर्मचारियों का नेता है जिसे सरकार की नवउदारवादी नीतियां पसंद नहीं आतीं। वह आंदोलनों का नेतृत्व करता है और बड़े बड़े भाषण देता है, पर भीतर से वह भी खोखला है— उसे भी लफ्फाजी की ही आदत है। उसने विधर्मा शादी कर रखी है। नूरजहां उसकी पत्नी है। पवन मुम्बई में एक फैक्ट्री चलाता है— 'मल्लिका पाइप्स'। किशोरी नामक अति महत्वाकांक्षी युवती उसकी पत्नी है। मदन अमेरिका में काम करता है और पैसा ही उसके लिए सब कुछ है। सबसे छोटा रतन इन सबसे अलग 'शिजोफ्रेनिया' का शिकार है जो कहीं टिक कर काम नहीं करता। शराब की लत उसे बर्बाद करती है और किसी भी भाई ने उसकी ईमानदारी से सहायता नहीं की है। एक बार बिगड़ा तो बिगड़ता ही चला गया और घर परिवार के साथ साथ बांके बिहारी की प्रतिष्ठा पर तब कलंक बन गया जब उसने पड़ोस की लड़की सपना से बलात्कार किया।

रतन लखनऊ में रहा, वहां नमन की अनदेखी का शिकार हुआ। मुम्बई में पवन की गरजपरस्ती ने उसे ठगा। पवन ने उसे अपने एक असिस्टेंट की नौकरी तो दी, पर बिना तनखाह दिये वह अपने ही भाई का शोषण करता रहा। मदन अमेरिका में रहते हुए भारत में पैसे भेजने को 'निवेश' मानता रहा। अतिरिक्त लाभ की उम्मीद न हो तो पैसा भेजना व्यर्थ का सौदा ही साबित होता, सो वह मां बाप और भाई का हालचाल पैसे में आंकता और पूछता रहता कि 'जरूरत हो तो जरूर बतायें वह पैसे भेज देगा।' पत्रकार बांके बिहारी के सभी पुत्र उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रतिनिधि हैं जो नवउदारवाद की उपज हैं। उन्हें पिता के राष्ट्रवादी मूल्यों से कोई लेना देना नहीं है। रतन का 'शिजोफ्रेनिया' रोग से ज्यादा एक प्रवृत्ति है जो युवा पीढ़ी की तात्कालिकता, आक्रामकता, क्रूरता और वहशीपन का लक्षण है।

यह उपन्यास 1992 से 2002 की अवधि को अपनी कथा का आधार बनाता है। ज्ञातव्य है कि 1992 में बाबरी मस्जिद ढहाई गयी और 2002 में गुजरात का नरसंहार हुआ। उपन्यास अपने वृत्तांत में इन 'दस वर्ष का भंवर' को भारतीय इतिहास का ऐसा काला अध्याय सिद्ध करता है जिससे कभी मुक्ति नहीं मिल सकती। इसके साथ साथ नवउदारवाद भी है जिसने देश की संस्कृति, आदर्श

और नैतिकता की चूलों हिला दी हैं। उपन्यासकार ने साम्प्रदायिकता और नवउदारवाद को एक ही सिक्के के दो पहलू के रूप में रखा है, जो बहसतलब है। नवउदारवाद भारत के जाने अनजाने आया और यहां की विवशता बन गया, पर वह अंतर्राष्ट्रीय वास्तविकता है जिसका प्रतिरोध तभी सम्भव है जब आपका स्वदेशी तंत्र मजबूत बन सके। जिस देश की आजादी के साठ बासठ वर्षों में ही प्रजातंत्र लूटतंत्र में बदल गया हो और जहां के समूचे घरेलू कुटीर और लघु उद्योगों सहित समूची कृषि संस्कृति तहस नहस हो गयी हो, वहां ऐसा कौन सा विकल्प बने जो नवउदारवादी व्यवस्था का सामना कर सके। नवउदारवाद वस्तुतः उपभोक्तावादी बाजारवादी भूमंडलीकरण है जिसे अपने सिर पर लादे घूमना उन सभी देशों की विवशता है जिन्होंने अपने देश के स्वदेशी तंत्र को छिन्न भिन्न कर डाला है। अपनी भाषा, अपना उद्योग, अपनी संस्कृति और अपने उद्यम से निर्मित की गयी प्रौद्योगिकी के बिना नवउदारवाद को रोकना असम्भव है। नवउदारवाद ने कुछ और किया हो या न किया हो, उसने समाज में ऐसी आक्रामकता को जन्म दे दिया है जिसके लिए एक सामान्य झूठ भी बड़े नरसंहार का कारण बन जाता है।

रवीन्द्र वर्मा में ऐसी समस्याओं की गहरी पहचान है और उसको भेदने की जरूरी तैयारी भी। पर उनकी चेतना पर समाजवादी उसूलों की इतनी गहरी छाप है कि वे कई दफा चीजों को उसकी सही शक्ति में पकड़ने से बचते रहे हैं। यह उपन्यास नवउदारवाद के साथ साथ जिस तरह साम्प्रदायिकता की चासनी को लेकर आता है, वह गतिरोध बन जाता है— पूरे उपन्यास के वितान को ठीक से समझने में। बांके बिहारी यदि भरी अदालत में स्मृतिदोष के शिकार होकर सपना और सलमा तथा रामकुमार और रतन में भेद नहीं कर पाते और बेतरह चीख पड़ते हैं कि सलमा का बलात्कार उनके सामने हुआ है और रतन ही उसका दोषी है तो यह अकारण नहीं है। याद रखने की बात यह है कि पत्रकार और आदर्शवादी मूल्यों के कायल बांके बिहारी अपनी संततियों को ऐसी शिक्षा और ऐसा संस्कार क्यों न दे सके जो उनके मूल्यों की रक्षा करता? उपन्यास इस प्रश्न पर खामोश है।

उपन्यास की भाषा आश्चर्यजनक ढंग से चकित करती है। उसमें प्रतीकात्मक लाघव की बारीकी के साथ साथ गद्य की लय का सौन्दर्य है। मेरा खयाल है कि इस उपन्यास तक आते आते रवीन्द्र वर्मा ने अपनी 'भाषा' पा ली है। निश्चय ही ऐसी भाषा हिन्दी के किसी भी उनके समकालीन कथाकार में नहीं है। एक उदाहरण लें— "दालान में अचानक गायत्री की नजर घड़ी पर पड़ी: सवा आठ बज गया था! उन्हें आश्चर्य हुआ। फिर चिन्ता हुई। बांके बिहारी अभी पौर से अंदर नहीं आये थे। ठीक आठ बजे आने के साथ वे अक्सर यह भी कहते: 'भूख लग आयी।' फिर हंसते हुए जोड़ते: 'शायद बुढ़ापे की वजह से है। भूख तेज हो गयी है। बचपन की तरह।' पौर में पहुंच कर गायत्री ने देखा कि वे एकटक सामने दीवार पर टंगी घड़ी की ओर देख रहे हैं।

'क्या देख रहे हैं?' गायत्री ने पूछा।

'समय।'

दीवार — घड़ी के ऊपर लगी बिजली की रॉड कुछ कांप रही थी। कुछ गड़बड़ था। प्रकाश का कम्पन पौर में तैर तैर आता। अंधेरे की झीनी चादर की तरह।" (पृष्ठ-31)

चरित्रों की निर्मिति में कुशलता है। परिस्थितियों के भीतर वे अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं और फिर विकसित होते हैं। उपन्यास में तनाव का अक्स शुरु से अंत तक पसरा हुआ है। ठीक ठीक कहा जाय तो यह उपन्यास उपभोक्तावादी नवउदारवाद की सड़ांध को उसकी पूरे जद में पकड़ने वाला उपन्यास बन सका है जिसमें वह अपनी पूरी विरूपता के साथ आता है। ऐसा इसलिए भी सम्भव हुआ है कि नवउदारवाद उपन्यासकार के लिए विमर्श का विषय नहीं बना है बल्कि उसकी अनुभूति से उपजे आख्यान का रूप ले सका है। इसमें तनाव है, यातना है, छटपटाहट है और इस सड़ांध से बाहर आने की 'सृजनात्मक विकलता' है और मेरा खयाल है कि यह उपन्यास की एक उपलब्धि है। हाल

के वर्षों में उपभोक्तावाद की भेंट चढ़ती भारतीय पारिवारिकता और कथित मनुष्यता को उसकी पूरी जटिलता में उठाता ऐसा कोई दूसरा उपन्यास नहीं आ सका है। पर साम्प्रदायिकता इस उपन्यास में विमर्श की तरह है जिसकी बहुत कारगर जगह इसमें बनती नहीं दिखती; क्योंकि उपन्यास 'सृजनात्मक चिन्तन' है, इसलिए प्रचलनवादी बहस उसका विरूपण ही करती है, कोई सार्थक रचनात्मक इयत्ता उससे हासिल नहीं हो सकती।

(2)

'आखिरी मंजिल' रवीन्द्र वर्मा का हाल ही प्रकाशित हुआ दूसरा उपन्यास है जिसमें लेखकीय जीवन के अंतस्थलों की पड़ताल है। लेखन जगत में किस किस तरह के छद्म हैं, उसकी भीतरी सच्चाई क्या है और कथित सफलता के रहस्य क्या हैं, इस पर से पर्दा उठाते रवीन्द्र वर्मा बहुत बेबाकी से स्थितियां स्पष्ट करते हैं। उपन्यास के चरित्र यथार्थ के बहुत निकट हैं, इसलिए उन्हें जान पाना भी आसान है। बहरहाल, इसकी तसदीक करना हमारा अभीष्ट नहीं है। हमारा अभीष्ट रचना में व्याप्त 'रहस्य' को जानने का प्रयत्न करना है।

माधव दयाल उपन्यास के केन्द्रीय पात्र हैं। अपने में ही रिक्त और तिक्त उनका चरित्र ऐसा है जो आज के समय में बहुत प्रासंगिक नहीं रह गया है। वे कवि हैं और बहुत संजीदा कवि। पर छद्म उन्हें आता नहीं, पाखंड से उन्हें चिढ़ है और सफलता के तंत्र को साध पाना उनके वश का नहीं है, इसीलिए वे लगातार असफल होते हैं। और अंततः टूट कर बिखर जाते हैं। माधव दयाल के चरित्र में अनेक गांठें हैं जो खुलती नहीं, उनके अंत का कारण बन जाती हैं। यह विचित्र ही है कि एक तरफ नैतिक होने का जोखिम उठाते हुए माधव दयाल अपने 'आत्म' को विगलित करने से भी नहीं चूकते। वे मरते मरते जीते हैं और जीकर मरना चाहते हैं। उनके भीतर होने न होने का गहरा अंतर्द्वंद्व चलता रहता है। एक बौद्धिक के आत्मिक और दैहिक द्वंद्व को अंकित करने की रवीन्द्र वर्मा की यह कोशिश विलक्षण है। मधु उनसे अलग है, जो उनकी पत्नी है। सुनंदा साथ रहती है। बेटी और पिता एक दूसरे को जानने का यत्न करते हैं। अपने निपट धर्मनिरपेक्ष मूल्यों, नैतिकताओं के लिए जीने वाले माधव, मदन मोहन सरीखे लेखक नहीं हैं जो हर तरह की तिकड़म से पुरस्कार प्राप्त करते हैं, पर जनता में भी सबसे अधिक नैतिक वे ही रहते हैं। माधव उन लेखकों के प्रतिनिधि हैं जो लिखने के अलावा कोई काम नहीं करते और नौकरीशुदा पत्नी के खर्च पर जीते हैं। इसमें भी दया माया की पोटली वे खोले रहते हैं— कभी किसी भिखारी को शॉल दे दिया, कभी किसी जरूरतमंद को पैसे दे दिये। ऐसे में मधु जैसी व्यावहारिक पत्नी से निभना मुश्किल ही था, इसीलिए मधु को छोड़ माधव लखनऊ लौट आये थे। बेटी सुनंदा, हरि नामक दलित लड़के से प्रेम करने लगती है, पर इस रहस्य से जल्दी ही पर्दा उठ जाता है कि हरि, माधव दयाल का ही बेटा है और उसकी मां चम्पा बाई है जो माधव के यहां झाड़ू बुहारू का काम करती रही है। उपन्यास में माधव और मधु के बेटी दामाद और नाती यानी सुनंदा, दीपक और जय के साथ साथ मदन मोहन, कंचन कुमारी, सुलोचना, चंद्रकांत, चम्पा बाई, हरि, मनीष बटव्याल, राजीव रंजन जैसे अनेक चरित्र हैं और सबकी अपनी जिन्दगियां हैं। पर केन्द्रीय कथा माधव दयाल की ही है जिसमें परिवार की त्रासदी के साथ साथ मदन मोहन और मनीष बटव्याल के पाखंडपूर्ण तमाशे भी हैं।

एक लेखक जो अपने समाज की चिन्ता में गर्क हो रहता है। अपने समय की नैतिकता के साथ जीने का अभ्यास करता है, पर वह व्यावहारिक नहीं हो पाता। कारण स्पष्ट है कि वह लिख कर जीना चाहता है और लिख कर जीना आज के समय में सम्भव नहीं है। मधु से इसीलिए माधव नहीं निभा पाते कि लिखने के सिवा वे कुछ नहीं करते और न कुछ करना चाहते हैं। ऐसे में उनका व्यक्तित्व ही खंडित नहीं होता उनका अंतर भी विगलित हो उठता है। अपनी ईमानदार अभिव्यक्ति और पारदर्शिता के साथ भावप्रवण लेखन तथा उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन का हथ्र यह होता है कि समाज

में हास्यास्पद ही बनना शेष रह जाता है।

एक व्यक्ति की आंतरिक रिक्तता के धरातल पर यह उपन्यास जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास 'व्यतीत' से उद्भूत साम्य रखता है जिसका नायक जयंत अपने अंतर से विखंडित होकर अपनी चेतना खो बैठा है। जैनेन्द्र कुमार की चिन्ता का धरातल दूसरा है, पर एक व्यक्ति की टूट के स्तर पर रवीन्द्र वर्मा का यह उपन्यास उससे आगे जाता है और कई प्रश्न छोड़ जाता है। भौतिकता से आक्रांत यह समय माधव दयाल का समय नहीं है कि आत्मिक और सामाजिक चेतना के दोनों धरातलों पर उनका सम्मान हो और वे दोनों स्तरों पर सफल हो सकें। एक नैतिक रचनाकार का आज सफल और सार्थक हो पाना सर्वथा असम्भव है, इस तीखी सच्चाई को एक व्यक्ति के बहाने जिन स्तरों पर लेखक ने सिद्ध करने की कोशिश की है, वह प्रशंसनीय है। यह एक लेखक की त्रासदी है जिसमें उसका पूरा जीवन समाहित है। उसका कोई नहीं होता, वह किसी का कुछ नहीं लगता, बस होता है, नियति उसे जिलाती है और एक दिन उठा लेती है। यह उपन्यास रचना और जीवन के अंतर्सम्बंधों की भी शिनाख्त करता है जिसका एक उदाहरण माधव दयाल और हरि के बीच एक संवाद का है—

“वह एकदम फट पड़ा”, आप मेरा दर्द बिल्कुल नहीं समझते। कविता लिखने से क्या होता है? जिन्दगी कागज पर लिखी कोई इबारत नहीं।’

वे कुछ देर अपलक उसकी ओर देखते रहे।

फिर उन्होंने कहा— ‘तुम ठीक कहते हो।...

मैं शर्मिन्दा हूँ।’ उनकी आंखों में आंसू थे।” (पृष्ठ 53)

बावजूद इसके कि माधव दयाल मनुष्य की तिक्तता के जरूरी अवगुणों से भरपूर हैं, वह एक ऐसे रचनाकार हैं जिनके यहां 'ईमान' पर कोई सौदा नहीं है। यह अकारण नहीं है कि 'किसान का घर' माधव की कविता में 'ईश्वर के घर' का बिम्ब बन जाता है। उन्हें कोई जोड़ तोड़, सौदा या लोभ लाभ से किया गया काम पसंद नहीं, भले ही वह साहित्य अकादमी पुरस्कार या ज्ञानपीठ सम्मान ही क्यों न हो। उनके लिए पुरस्कार पाना ही आखिरी मंजिल नहीं है। यह उपन्यास एक बहस भी करता दिखता है कि क्या एक लेखक के लिए सम्मान पाना ही चरम लक्ष्य होना चाहिए? सचमुच ऐसा नहीं होना चाहिए। लेखक का चरम लक्ष्य उसकी आंतरिक पूर्णता में है जो उसके आत्मबोध से ही प्राप्त हो सकती है।

अपने शिल्प के गठन, भाषा की अर्थमयता और संवेदना की तरलता के कारण यह उपन्यास बहुत सफल है। इस उपन्यास की कला का वैशिष्ट्य संवादों और विवरणों में है जिसमें माधव दयाल की करुणा कथा अनेक आयामों तक पहुंचती है। माधव की यातना, त्रासदी और निरंतर उनकी संघर्षमयता आपको सहज ही फ्रांज काफ़्का के नायकों की याद दिला सकते हैं जिनकी समस्या यह नहीं है कि वह सफल नहीं हो पाते वरन् यह है कि वे अपनी परिस्थितियों से निकल पाने की युक्ति नहीं जानते और उसी में दम तोड़ देते हैं। माधव को युक्ति तो आती है, पर वे उस युक्ति में अपनी मौत देखते हैं। जिन्दा रहना सचमुच सफल होने से बेहतर है।

दस बरस का भंवर : रवीन्द्र वर्मा, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य : 200. रु.

आखिरी मंजिल : रवीन्द्र वर्मा, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य : 150. रु.